

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

सौजन्य-पराक्रम प्रकरण

प्रभाते पुण्यवेलायां प्रारब्धः सत्समागमः ।
नैमिषारण्यगां वातावृतिं पूतां भृशं पुनः ॥ १ ॥
ज्ञानालोकेन कुर्वंश्च प्रखरां समशोभत ।
आगन्तारश्च सर्वेऽपि मुनयस्ते मनीषिणः ॥ २ ॥
ज्ञानगंगावगाहेन श्रमे भ्रांतेर्गते भृशम् ।

अन्वभूवन्नुदारास्ते धर्मात्मानः प्रसन्नताम् ॥ ३ ॥
गतिशीलः प्रसंगोऽभूदवलम्ब्य कथं नरः ।
धर्मस्य धारणां दिव्यां सर्वसाधारणादपि ॥ ४ ॥
जीवनादधिगन्तुं च महामानवतामिह ।
अर्हतीति कथं तिष्ठन् सामान्ये नरविग्रहे ॥ ५ ॥
देवजीवनजं प्राप्तुमानन्दं संभवेदिति ।
मार्गदर्शनमस्यासीत्सत्रस्य प्रतिपादनम् ॥ ६ ॥

२.३६ प्रज्ञोपनिषद्

आरुणिः प्रश्नकर्ता च पप्रच्छ विनयानतः ।
सत्राध्यक्षं च सत्रेऽस्मिन् दिव्ये सोऽद्यतनो मुनिः ॥ ७ ॥
धर्मस्य धारणायाश्च भगवन् विषये शुभे ।
ब्रूतां युगमस्य तुर्यस्य सौजनस्य तथैव च ॥ ८ ॥
पराक्रमस्य सम्बंधः वर्तते कः परस्परम् ।
धर्माधारौ कथं प्रोक्तावुभावपि बुधैरिह ॥ ९ ॥

टीका—प्रभात की पुण्य वेला में नित्य चलने वाला संत-समागम नैमिषारण्य के पुनीत वातावरण को और भी अधिक प्रकाश-प्रखरता से भर रहा था। आगतुक उदार धर्मात्मा, मुनि-मनीषी इस ज्ञानगंगा का नित्य अवगाहन करते हुए भ्रांति की थकान दूर हो जाने से अतीव प्रसन्नता अनुभव कर रहे थे। प्रसंग गतिशील था। धर्म-धारणा का अवलंबन करके किस प्रकार सर्वसाधारण से महामानव बनने का सुयोग मिल सकता है, किस प्रकार सामान्य मनुष्य कलेवर में रहते हुए भी देव जीवन का आनंद लिया जा सकता है, इसका मार्गदर्शन इस सत्र का विशेष विषय था। आज के प्रश्नकर्ता आरुणि ने विनयावनत होकर सत्राध्यक्ष से पूछा, हे भगवन धर्म धारणा के चतुर्थ युगम सौजन्य और पराक्रम के संबंध में प्रकाश डालने का अनुग्रह करें। बताएँ कि उनका परस्पर क्या संबंध है और उनको धर्म का आधार क्यों कहा गया है? ॥ १-९ ॥

आश्वलायन उवाच
उपस्थिता जनाः सर्वे शृण्वन्त्ववदधत्वपि ।
धर्मः शब्दान्तेरेणाऽत्र मंतव्यः शुभकर्मता ॥ १० ॥
कर्तव्यमिदमेवास्ति मानवानां तथैव च ।
आत्मपूर्णत्वमेवाथ विश्वकल्याणमप्युत ॥ ११ ॥
उभयं प्रयोजनं सिद्ध्येदनेन विधिना स्वतः ।
सादर्शा दृढता प्राप्तुमर्ह्याश्च क्षमताः शुभाः ॥ १२ ॥
एतासु प्रथमं युक्तं स्नेहसौजन्यमेव तु ।
तत्परत्वं समग्रं च द्वितीयमभिमन्यताम् ॥ १३ ॥

टीका—आश्वलायन ने कहा, प्रश्नकर्ता समेत सभी उपस्थितजन ध्यान से सुनें। धर्म को दूसरे शब्दों में सत्कर्म समझें। यही मनुष्य का कर्तव्य है। आत्मिक पूर्णता और विश्व कल्याण का उभयपक्षीय प्रयोजन भी इसी से पूर्ण होता है। इस आदर्शवादी दृढ़ता को प्राप्त करने के लिए कुछ प्रमुख क्षमताएँ अनिवार्य रूप से अर्जित करनी होती हैं। इनमें एक हैं स्नेह-सौजन्य और दूसरी हैं समग्र तत्परता ॥ १०-१३ ॥

एका सज्जनता प्रोक्ता तथा कर्मठताऽपरा ।
उभयोरपि संबन्धः कथ्यते च पराक्रमः ॥ १४ ॥
पराक्रमश्च देवानां बलविक्रम उच्यते ।
आधारमिममाश्रित्य स्थितिमुच्चां भजन्ति ते ॥ १५ ॥
सर्वेषां प्राणिनां ते च कल्याणे मानवाः सदा ।
जायन्ते निरताः श्रेयो विन्दन्त्यपि च संततम् ॥ १६ ॥

टीका—सज्जनता और कर्मठता यह दोनों जब मिलते हैं, तो उनका समन्वय पराक्रम कहलाता है। इसी आधार पर वे उच्चतम स्थिति तक पहुँचते हैं। सबका कल्याण करने में निरत रहते हैं और श्रेय प्राप्त करते हैं ॥ १४-१६ ॥

व्याख्या—धर्म की परिधि असीम है। परिभाषा सरल नहीं, अपितु बहुमुखी होने के कारण किंचित क्लिष्ट भी। धर्म कर्तव्यनिष्ठा का पर्यायवाची माना जा सकता है, श्रेष्ठता से अभिपूरित कार्यों में जो निरत हो, वही सच्चा धर्म कहा जा सकता है। मात्र अपनी मुक्ति नहीं, समष्टिगत हित की बात सोचने वाला ही प्रगति के पथ पर बढ़ सकता है। ऋषि श्रेष्ठ यहाँ धर्म के चौथे युगम के रूप में पारस्परिक स्नेह-सद्भाव एवं सर्वांगपूर्ण तत्परता की चर्चा कर रहे हैं। दोनों ही एक दूसरे के पूरक एवं आदर्श के पथ पर चलने वालों के लिए अनिवार्य हैं। विनम्रता जितनी अनिवार्य है, उद्देश्य के प्रति लगन-दृढ़निष्ठा भी जीवन में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। ये दोनों जब मिलते हैं, तब प्रखर पराक्रम जन्म लेता है। इस प्रकार दृढ़ता से युक्त विनम्रता एवं जागरूकता का समन्वय उस गुण को जन्म देता है जो जीवन व्यापार चलाने एवं ऊँचा उठने के लिए सभी को अभीष्ट है।

अस्ति सज्जनता नूनं गुणः प्रथमतां गतः ।
नम्राः विनयवन्तश्च मधुरव्यवहारिणः ॥ १७ ॥
सभ्यताऽभ्याससंपन्नाः सुसंस्कारयुता नराः ।
उच्यन्ते सज्जना लोके सत्यपक्षानुगाः सदा ॥ १८ ॥
हेतोः सज्जनतायाश्च शोभा सा वर्धते नृणाम् ।
अशिष्टा दुष्टसंस्कारा नरा ये सन्त्यसंस्कृताः ॥ १९ ॥
सर्वे मानवतां ते तु कुर्वन्ते हि कलंकिताम् ।
धूमकेतुसमास्ते तु जगतः श्रेयसां कृते ॥ २० ॥
सज्जनाः पुरुषैः सर्वैर्व्यवहारं शुभं सदा ।
कुर्वन्ते शत्रुभिश्चापि रोगो नाश्यो न रोगवान् ॥ २१ ॥
प्रवृत्तेरपराधिन्या दमने गृह्यतामपि ।
शल्यक्रियेव चादत्ता चिकित्साकारिणेव च ॥ २२ ॥
उपक्रमस्तु कर्तव्यो येन ते गलिता क्रमान् ।
अन्यानवयवान् कुर्युः कदाचिद् गलितान्निहि ॥ २३ ॥
स्नेहे सद्भावप्राधान्यं पक्षपातस्य न स्थितः ।
जायते तत्र सद्भावः हितेच्छां बोधयत्यलम् ॥ २४ ॥

टीका—सज्जनता मनुष्य का आरंभिक गुण है। नम्र, विनयशील, मधुर व्यवहार वाले, सभ्यता की परंपरा से अभ्यस्त, सुसंस्कारी सत्य के पक्षपाती व्यक्तियों को सज्जन कहते हैं। सज्जनता से ही मनुष्य की शोभा बढ़ती है। अशिष्ट, अनगढ़, कुसंस्कारी तो मानवता को कलंकित करते हैं, वह विश्व कल्याण के विनाशसूचक धूमकेतु हैं। सज्जन हर किसी के साथ सद्व्यवहार करते हैं, शत्रु के साथ भी अपराधी के साथ

भी। रोग को मारा और रोगी को बचाया जाता है। अपराधी प्रवृत्ति का दमन करने में चिकित्सक द्वारा की गई शल्य चिकित्सा जैसा उपक्रम अपनाया जाना चाहिए, जो सड़े अवयव को इसलिए काटकर फेंक देता है कि उसके कारण होने वाली सड़न अन्य अवयवों को भी न गला डाले। स्नेह में पक्षपात नहीं, सद्भाव की प्रधानता होती है। सद्भाव का तात्पर्य हितकामना है ॥ १७-२४ ॥

व्याख्या—व्यावहारिक अध्यात्म की शुरुआत सज्जनता से होती है। जिनके अंतः के संस्कार प्रबल प्रखर होते हैं, वे किसी भी स्थिति में चाहे वे कितनी ही प्रतिकूल क्यों न हो, धर्म को नहीं छोड़ते। सज्जनता की शोभा सद्भाव जन्य सद्व्यवहार में है। वे पाप से घृणा करते हैं, पापी से नहीं। जहाँ अंतः में परहित की भावना होगी, वहाँ सामने वाला अपने कितना ही समीपवर्ती क्यों न हो, दृष्टि औचित्यपरक न्यायमूलक होगी। ऐसे व्यक्ति का साथ धर्म भी कभी नहीं छोड़ता।

औदासीन्यमुपेक्षा च शोभते न परस्परम्।

भावः स्वत्व परत्वाख्यो नोपयुक्तो मतो नृणाम् ॥ २५ ॥

हानिरेवैभिरत्रास्ति प्राप्यतेऽनादरात्सदा।

अनादरो मानलाभः सहयोगस्य चापि सः ॥ २६ ॥

लाभः सद्व्यवहारेण जायते यत आत्मनः।

पिपासा प्रेमसंबद्धा जायते तस्य तर्पणम् ॥ २७ ॥

आवश्यकं यथाऽऽहारो दीयते वपुषेऽपि सः।

प्रतीयते प्रियश्चात्म - भावदन्येऽपि मानवाः ॥ २८ ॥

विस्तरेण प्रियस्यापि प्रसादः प्राप्यते सदा।

परितः स्वं स्वमान्यानां जनानां वा समान्यता ॥ २९ ॥

क्रियते तदनुसारं च व्यवहारे सुखावहा।

परिणतिर्दृश्यते तत्र तत्कालं मोदिनी नृणाम् ॥ ३० ॥

टीका—एक दूसरे के प्रति उदासी-उपेक्षा और पराएपन का भाव बरतना उपयुक्त नहीं। इससे हानि ही हानि होती है। अनादर के बदले अनादर ही मिलता है। सद्व्यवहार की प्रतिक्रिया भी सम्मान और सहयोग के रूप में उपलब्ध होती है। आत्मा को प्रेम की प्यास है। उसे तृप्त करना भी शरीर को भोजन देने की तरह ही आवश्यक है। दूसरों के प्रति आत्मीयता की भाव स्थापना करने पर वे प्रिय लगते हैं। प्रिय का विस्तार होने से प्रसन्नता बढ़ती है। अपने चारों ओर अपने लोग रहने की मान्यता बनाने और तदनुसार व्यवहार करने पर उसकी सुखद परिणति हाथों-हाथ दीखने लगती है, जो मानव-मात्र को सुखद होती है ॥ २५-३० ॥

व्याख्या—जो दूसरों के साथ जैसा करता है वैसा ही फल पाता है। जो भले होते हैं, उन्हें बदले में सहयोग समर्थन एवं सम्मान मिलता है। जो दूसरों का अपमान करते हैं, वे

बदले में वही पाते भी हैं। अपने अंदर की दुनिया जिसकी जैसी भी है, वही बहिरंग में परिलक्षित होती है। मनुष्य स्वभावतः सद्भाव स्नेह-प्रेम का प्यासा है। उसी से उसका अंतःकरण बना है और वही उसे दूसरों से भी अपेक्षित भी है। जब स्नेह के स्थान पर ईर्ष्या पनपने लगे तो स्वभावतः उसकी प्रतिक्रिया भी वैसी होती है।

इसे विडंबना ही कहा जाना चाहिए कि लोग रोग, शोक और पतन के कारण बाहर ढूँढ़ते दूसरों पर थोपते हैं, पर सच तो यह है कि ये आंतरिक विग्रह के परिणाम होते हैं। बीमारियाँ मन से उपजती हैं। स्वस्थ रहना हो तो मन को ठीक रखना आवश्यक है।

व्यवहारो निजोऽभ्येति समीपे स्वस्य स तथा।

शब्दो वा कंदुकश्चाऽपि सम्मुखस्थगृहस्य तु ॥ ३१ ॥

शिखरात् प्रतिहतौ तीव्रमायातस्तु यथा ध्रुवम्।

स्नेह-सौजन्य-लाभश्चारंभकर्त्रेऽधिको भवेत् ॥ ३२ ॥

अपेक्षया कृतं यं तु नरमुदिदृश्य तस्य तु।

प्रत्यक्षं परिणामः स सेवासद्भावजो मतः ॥ ३३ ॥

अतिरिक्ततया पुण्यं प्राप्यते वर्द्धते तथा।

मानमाधारमेनं च समाश्रित्याप्यते च यत् ॥ ३४ ॥

प्रामाण्यं च वरिष्ठत्वं सहयोगो नृणां ततः।

प्राप्तुं सा न्यूनता नैव काऽपि कुत्रापि दृश्यते ॥ ३५ ॥

टीका—अपना व्यवहार गुंबज की आवाज की तरह, फेंकी हुई गेंद की तरह, सामने वाले से टकराकर अपने पास ही लौट आता है। जिसके प्रति स्नेह, सौजन्य बरता गया है। उसे जितना लाभ होता है उसकी तुलना में उस शुभारंभ करने वाले को अधिक लाभ मिलता है। सेवा के बदले सेवा, सद्भाव के बदले सद्भाव, मिलने का परिणाम तो प्रत्यक्ष ही है। इसके अतिरिक्त पुण्यफल भी मिलता है, सम्मान बढ़ता है और इस आधार पर प्रख्यात हुई प्रामाणिकता और वरिष्ठता पर जन-सहयोग मिलने में भी कमी नहीं रहती ॥ ३१-३५ ॥

यह बात छोटे से छोटे और बड़े से बड़े प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अनिवार्य सत्य है। छोटे इसी आधार पर बड़े बनते तथा बड़े इसी आधार पर व्यापक सम्मान और श्रद्धा अर्जित करते हैं।

महान्तो मानवास्त्वेनमाधारमभिगम्य ते।

जाताः समुन्नता याता अग्रे सर्वेभ्यः एव च ॥ ३६ ॥

स्नेहसौजन्ययुक्तानि तेषां वाक्यानि स तथा।

व्यवहारोऽपि सर्वैस्तु मानितो मानवैः शुभः ॥ ३७ ॥

फलतश्च कृतज्ञत्वभावस्योपकृतेरपि ।

अतिरिक्ततया लाभाः प्राप्ताः प्राप्य तथात्विमान् ॥ ३८ ॥

नरः स्यान्मुदितोऽश्रान्तः गौरवी पुलकाञ्चितः।

जनानां सहयोगेन कर्तुं नृनुन्नतान् समान् ॥ ३९ ॥

२.३८ प्रज्ञोपनिषद्

नैतिकाऽध्यात्मिकक्षेत्रे लभतेऽवसरः सदा ।
आधारमिममाश्रित्य शिष्टाचारस्य जायते ॥ ४० ॥
व्यवहृते सहयोगस्य दिव्या सा तु परंपरा ।
वातावृतिर्यतोऽन्ते च निर्मितास्याच्छुभावहा ॥ ४१ ॥
अवसरः प्रगतेः सर्वैराप्यते नीतिराश्रिता ।
स्नेहसौजन्ययोः सिद्धौ परार्थः स्वार्थ एव च ॥ ४२ ॥

टीका—महामानव इसी आधार पर ऊँचे उठे और सबसे आगे बढ़े हैं। उसके स्नेह, सौजन्य से भरे वचन और व्यवहार हर किसी को बहुत भाए। फलतः उनको कृतज्ञता-प्रत्युपकार भावना का अतिरिक्त लाभ भी मिला। इन उपलब्धियों को प्राप्त कर सकने वाला व्यक्ति प्रसन्न-पुलकित रहता है, गौरवान्वित होता है। जन-सहयोग से ही लोगों को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने का अवसर भौतिक और आत्मिक क्षेत्र में मिलता है। इस आधार पर जन समुदाय में शिष्टाचार, सद्व्यवहार और सहयोग की परंपरा पलती है और उससे उत्तम वातावरण बनता है सभी को प्रगति का अवसर मिलता है। स्नेह-सौजन्य की नीति अपनाने पर स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही समान रूप से सधते हैं ॥ ३६-४२ ॥

व्याख्या—महामानवों की पौध से मलयागिरि चंदन की तरह सुवासित वायु के प्रवाह चलते हैं, एवं संपर्क में आने वाले क्षेत्र को प्रभावित करते चले जाते हैं। ऐसे व्यक्ति स्वयं श्रेय को प्राप्त होते हैं एवं अन्य अनेकों के लिए प्रेरणा स्तोत्र बनते हैं। समाज में श्रेष्ठ परंपराएँ इसी कारण जन्मती व उस वर्ग समूह को ऊँचा उठाती हैं। प्रकारांतर से स्नेह-सौजन्य भरी परमार्थ साधना व्यक्ति के हित के साथ समष्टिगत हित साधन भी करती है। इस प्रकार वह हर दृष्टि से जीवन में उतारने योग्य है।

उददंडादुर्जनास्ते तु न पराक्रमशालिनः ।
भवंति तेऽपराधित्वधिया क्राम्यन्ति संततम् ॥ ४३ ॥
क्रियात्मकेषु कार्येषु न तु लग्नतया क्वचित् ।
स्थातुं समर्था जायन्ते समाजपरिपन्थिनः ॥ ४४ ॥
धैर्यं मनोबलं चास्य कृतेऽपेक्ष्ये भवन्त्यपि ।
आदर्शनिष्ठायोगाच्च कार्याण्यत्र महान्त्यपि ॥ ४५ ॥
कष्टानि सहमानैश्च क्रियन्ते तानि मानवैः ।
संकल्पं चेदृशं तस्मादधिगच्छन्ति संततम् ॥ ४६ ॥
मनःस्थितौ तथेदृश्यां नैति कश्चिन्निराशताम् ।
योद्धुमुत्सहते चात्राऽसाफल्ये प्रतिगामिभिः ॥ ४७ ॥
पराक्रमयुतानां च नराणां साहसैः श्रमैः ।
मनोबलेन सिद्धानि कार्याण्यत्र महान्त्यपि ॥ ४८ ॥

टीका—दुर्जन उदंड भर होते हैं, पराक्रमी नहीं। वे अपराधी प्रवृत्ति अपनाकर आक्रमण कर सकते हैं, पर किसी सृजनात्मक कार्य में लगनपूर्वक देर तक टिके नहीं रह सकते, वस्तुतः वे

समाज के शत्रु होते हैं। इसके लिए धैर्य और मनोबल चाहिए। आदर्शवादी निष्ठा के योगदान से महान कार्य बन पड़ते हैं। कष्ट सहकर भी उन्हें करते रहने का संकल्प इन्हीं कारणों से मिलता है। ऐसी मनःस्थिति होने पर असफलता की स्थिति में भी निराशा नहीं आती और प्रतिकूलताओं से जूझने का साहस अक्षुण्ण बना रहता है। पराक्रमी लोगों के अथक श्रम, अदम्य साहस और अटूट मनोबल के सहारे ही संसार के महान कार्य बन पड़े हैं ॥ ४३-४८ ॥

व्याख्या—पराक्रम सौजन्य के साथ ही निभता है। सज्जनता कभी उद्धत, उच्छृंखलता को प्रश्रय नहीं देती। सौम्य होना ठीक है, परंतु अनीति सहकर नहीं। उसके लिए पर्याप्त साहस-संकल्प बल होना चाहिए ताकि दृढ़ता से उददंडों से जूझा जा सके। विनम्रता युक्त पराक्रम ही वस्तुतः महामानवों के लिए अभीष्ट है। यह मानवीय गुण, मानवीय चेतना के उस अमृत के समान है, जिसके सहारे दुर्जन समुदाय को भी बदला जा सकता है। अटूट लगन व धैर्य के सहारे वे यह भी कर दिखाते हैं।

तुलिता मणिमुक्ताभिः शोभनाः श्रमसीकराः ।

लग्नता सिद्यधिष्ठात्री प्रोक्ता कामदुधा बुधैः ॥ ४९ ॥

तत्परत्वं तन्मयत्वं सुयोगं यत्र गच्छतः ।

साफल्यपत्नौ न संदेहस्तत्र कश्चिद्भवेन्नृणाम् ॥ ५० ॥

कालश्रममनोयोगत्रयाणां यः समन्वयः ।

स्रोतः सर्वविधानां तत् साफल्यानां मतं स्वतः ॥ ५१ ॥

रहस्यमेतज्जानन्ति नराः स्वीकुर्वते च ये ।

इयं भाग्यमहालक्ष्मीश्छायेवैतानुपासते ॥ ५२ ॥

जीवितुं तु कियत्केन नेदं वर्षैस्तु गण्यते ।

परं पौरुष संलग्नश्रममाश्रित्य गण्यताम् ॥ ५३ ॥

टीका—स्वेदकणों की मणि मुक्ताओं से तुलना की गई है। लगन को सिद्धियों की अधिष्ठात्री कहा गया है। यह कामधेनु है। तत्परता और तन्मयता का जहाँ भी सुयोग बनता है, वहाँ सफलता पाने में कोई संदेह नहीं रह जाता है। समय, श्रम और मनोयोग का समन्वय ही समस्त प्रकार की सफलताओं का स्रोत है। जो इस रहस्य को अपनाते हैं, भाग्य लक्ष्मी उन्हें चारों ओर से घेरे रहती है। कौन कितना जिया, इसका मूल्यांकन वर्षों के हिसाब से नहीं वरन पुरुषार्थ में लगे श्रम के आधार पर किया जाता है ॥ ४९-५३ ॥

व्याख्या—अकेला श्रम भी निरर्थक है। समय प्रचुर मात्रा में हो पर श्रम का माद्दा न हो काम के प्रति तन्मयता न हो, तो वह भी व्यर्थ हो जाता है। जहाँ के आदमी के पसीने की बूँदें गिरती हैं, वह धरती धन्य हो जाती है। सार्थक श्रम भले ही वह सीमित समय में किया है, समृद्धि लाता है, उस व्यक्ति के जीवन को सार्थक बना देता है।

अत्येति साहसं सर्वान् पुरुषार्थफलं महत् ।
प्राप्यते मानवैः सर्वैरलसा भाग्यवादिनः ॥ ५४ ॥
भवन्ति दोषारोपं च नरेष्वन्येषु कुर्वते ।
वर्द्धयन्ति नराः स्वां तु योग्यतां पुरुषार्थिनः ॥ ५५ ॥
न चाञ्चल्यं श्रयन्त्येते स्वीकुर्वन्ति च कर्म यत् ।
प्रतिज्ञापूर्वकं तच्च पूर्णं ते कुर्वते ध्रुवम् ॥ ५६ ॥
असाफल्यमिह प्रोक्तं लग्नेन मनसा तथा ।
पूर्णनाथ श्रमेणापि न कृतं कर्मनिश्चितम् ॥ ५७ ॥
समयावधिपर्यन्तमिति तथ्यं विदन्ति ये ।
नासाफल्ये निराशास्ते कुर्वन्तेऽपि तु कर्म तत् ॥ ५८ ॥
मनोयोगेन ते सर्वे द्वैगुण्येन व्रजन्ति च ।
सिद्धिं सुखानि सर्वाणि करस्थानि च कुर्वन्ते ॥ ५९ ॥

टीका—साहस बाजी मारता है। पुरुषार्थ का फल सभी को मिलता है। आलसी भाग्य की दुहाई देते और दूसरों पर दोष लगाते रहते हैं। पुरुषार्थी अपनी योग्यता बढ़ाते हैं। चंचलता को फटकने नहीं देते। जिस काम को हाथ में लेते हैं, उसे प्रतिज्ञापूर्वक करते रहते हैं। असफलता का तात्पर्य है, पूरे मन और श्रम के साथ पूरे समय तक काम न करना। जो इस तथ्य को जानते हैं वे असफलता मिलने पर निराश नहीं होते। वरन दूने मनोयोग के साथ काम करते हैं, और सिद्धि को प्राप्त कर समस्त सुखों को अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं ॥ ५४-५९ ॥

व्याख्या—संसार में आज तक किसी को कुछ अनायास ही नहीं मिल गया है। इसलिए किसी को दोष देने, ईर्ष्या करने की अपेक्षा सफलता का पथ पहचानना हर किसी के लिए आवश्यक है।

आशा विश्वास शक्तिः सा बलकौशलसाधनैः ।
विभवैरपि प्रोक्ता च श्रेष्ठा सर्वगुणान्विता ॥ ६० ॥
वाञ्छतीह नरः स्वं यः सुखिनं च समुन्नतम् ।
साहसी पुरुषार्थी स श्रमशीलः सदा भवेत् ॥ ६१ ॥
प्रयोजनेषु संदर्भस्थितेष्वेव मनः सदा ।
नियोजयेन्न चान्यत्र भ्रामयेत्तन्निरर्थकम् ॥ ६२ ॥

टीका—आशा और विश्वास की शक्ति-बल कौशल और साधन की संपदा से भी अधिक है। जो सुखी रहना चाहते हों, उन्नतिशील बनना चाहते हो उसे चाहिए कि पुरुषार्थी रहे, साहस अपनाए और श्रमशील बने। मन को प्रस्तुत प्रयोजनों में लगाए रहे, उसे इधर-उधर न भटकने दें ॥ ६०-६२ ॥

व्याख्या—निराश हो जाना मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। महामानव सदैव ही इससे बचने की शिक्षा देते रहते हैं। निराश व्यक्ति के लिए बड़े कार्य करना संभव नहीं होता।

श्रमतः कच्छपोऽजैषीच्छशकं तीव्रगामिनम् ।
सन्ततं मंदगत्याऽपि श्रमलग्ना पिपीलिका ॥ ६३ ॥
शिखरं भूधरस्यैषा याति भारयुताऽपि तु ।
बयो-विहगनीडोऽपि तच्छ्रमं ख्याति सुन्दरः ॥ ६४ ॥
मनोयोगं च, मूर्खास्ते श्रमलग्ना भवन्त्यपि ।
विद्वांसो निर्धनाश्चापि धनवंतो न संशयः ॥ ६५ ॥

टीका—कछुए ने खरगोश से बाजी जीती थी। चींटी धीरे-धीरे किंतु अनवरत श्रम करके बोझ लिए-लिए पर्वत शिखर पर जा पहुँचती है। बया पक्षी का इतना सुंदर घोंसला होना, उसके अश्रक श्रम और समुचित मनोयोग का ही प्रतिफल है। श्रम संलग्न होने पर मूर्खों को विद्वान और निर्धनों को धनवान बनाने का अवसर मिलता है ॥ ६३-६५ ॥

व्याख्या—यदि लगन सच्ची हो, संकल्प बल दृढ़ हो एवं श्रम करते रहने पर भी धैर्य रखें रहने का गुण मनुष्य में हो, तो भले ही प्रगति की गति धीमी हो, सफलता अंततः मिलकर ही रहती है। हर कार्य तत्परता एवं तन्मयता का समन्वय होने पर ही श्रेष्ठ बनता है। कारीगर, मूर्तिकार, चित्रकार, सुंदर आकर्षक कृति तभी बना सकते हैं, जब तनिक भी विचलित हुए बिना वे पूर्ण मनोयोग से उसमें लगे रहें। परीक्षा में सफलता इसी आधार पर मिलती है। व्यक्ति-व्यक्ति के कार्य एक से होते हुए भी परिणतियाँ भिन्न-भिन्न इसलिए होती हैं कि एक ने उसमें अपने आपको पूरी तरह झोंक दिया, दूसरा किसी तरह टाल-मटूल करता हुआ समय पूरा करता रहा।

कभी निराश न होने वाले सदैव अपने काम में तत्परता में लगे रहने वाले कर्मयोगी कहलाते हैं। उनके हाथ में जो काम होता है, वह निश्चित ही पूरा होता है, सुंदर परिणति को प्राप्त होता है। ऐसे पुरुषार्थी अपने अध्यवसाय से उच्च स्थिति तक पहुँचते हैं।

योजितां दिनचर्यां ये कृत्वा लग्नाः परिश्रमे ।
सन्ततं स्वास्थ्यमेतेषां दृढं दृढतरं भवेत् ॥ ६६ ॥
वर्द्धतेबुद्धिमत्ताऽपि व्यसनेभ्यश्च रक्षितः ।
जायते समये रिक्ते व्यसनानि स्फुरन्ति तु ॥ ६७ ॥
आधारं नोपयुक्तं चेल्लभते मतिरप्यतः ।
कुक्कल्पनाऽभिलग्नस्यात्यथश्रष्टस्ततो भवेत् ॥ ६८ ॥

टीका—योजनाबद्ध दिनचर्या अपनाकर, जो अनवरत परिश्रम में लगे रहते हैं, उनका स्वास्थ्य सुदृढ़ रहता है, बुद्धिमत्ता बढ़ती है, बुराइयों से बचे रहने का अवसर मिलता है। खाली समय में दुर्व्यसन ही बन पड़ते हैं और मस्तिष्क के लिए कुछ उपयुक्त सोचने का यदि कोई आधार न हो तो वह कुक्कल्पनाओं में लग पड़ता है और मनुष्य पथ-भ्रष्ट हो जाता है ॥ ६६-६८ ॥

व्याख्या—चंचल मन वाले, अनियमित जीवनक्रम अपनाने

२.४० प्रज्ञोपनिषद्

वाले, जीवन में असफल ही रहते हैं। खाली दिमाग को शैतान का घर कहा गया है, जो कि सत्य है। यदि मन को सही दिशा में नियोजित न किया जाए, तो वह न जाने कहाँ-कहाँ भटकता फिरता एवं व्यक्तित्व अनगढ़ बनाता है। मन को इसीलिए काम में लगाना, व्यस्त रखना बहुत अनिवार्य है।

कुविचारा भवन्त्येते घातकास्तु तथा यथा।
कुकर्माणि कृतान्यत्र तस्मादेतान् चिंतयेत् ॥ ६९ ॥
छुरिका जीर्णतां याति या हि नैवोपयुज्यते।
नैष्कर्म्यं पुरुषो याति पशुर्वा चेष्टते न यः ॥ ७० ॥
स्वाभिर्विशेषताभिश्च हीनो भवति स क्रमात्।
अभिशापैरतश्चैभिरात्मानं रक्षितुं नरैः ॥ ७१ ॥
उपयोगिश्रमेष्वेतच्छरीरमुपयुज्यताम् ।
स्वाध्यायैः सद्विचारैश्च सत्संगेन मनोऽपि च ॥ ७२ ॥
भवेत्कार्यरतं नित्यं मनोयोगेन कर्मणाम्।
कृतानां श्लाघ्यतां याति स्वरूपं सन्ततं स्वतः ॥ ७३ ॥
उपेक्षयाऽस्थिरेणापि मनसा वा कृतानि तु।
कार्पण्यसंगतानीव जायन्ते नापि स तथा ॥ ७४ ॥
लाभ आसाद्यते यद्वन्मनोयोगकृतैर्भवेत्।
सामर्थ्याच्छ्रमशीलत्वं महत्त्वेनातिरिच्यते ॥ ७५ ॥

टीका—कुविचार भी कुकर्मी की तरह ही घातक होते हैं, अतः इनका चिंतन नहीं करना चाहिए। बेकार पड़े चाकू को जंग खा जाती है। बैठा ठाला मनुष्य या पशु धीरे-धीरे निकम्मा बनता जाता है और अपनी सहज विशेषताओं से हाथ धो बैठता है। इन अभिशापों से बचने के लिए हर समझदार व्यक्ति को अपना शरीर उपयोगी श्रम में लगाए रहना चाहिए। मन को सद्विचारों से, स्वाध्याय और सत्संग के सहारे कार्यरत रखे रहना चाहिए। कामों को मनोयोगपूर्वक करने से उनका स्वरूप प्रशंसनीय बन जाता है, इसके विपरीत उपेक्षा और अन्यमनस्कतापूर्वक किए गए काम बेतुके होते हैं तथा उनसे वैसा लाभ नहीं मिलता जैसा कि मनोयोगपूर्वक करने से मिल सकता था। क्षमता से भी अधिक महत्त्व श्रमशीलता का है ॥ ६९-७५ ॥

व्याख्या—मनुष्य के कर्तव्य का निर्धारण उसका चिंतन करता है। यह सही ही कहा गया है कि जो जैसा सोचता है, वैसा ही करता है व वैसा ही बन जाता है। इसीलिए व्यक्ति को सतत सत् चिंतन में स्वयं को नियोजित रखे रहने की महत्ता प्रतिपादित की जाती रही है।

साहसं तत्पराक्रमोऽप्याशायुक्तमनः स्थितिः।
पराक्रमोऽस्ति योग्याश्च नरास्ते साहसं विना ॥ ७६ ॥
न शक्नुवन्ति कार्याणि कर्तुं तानि महान्ति ते।
अविकासस्थितावेव तिष्ठन्त्यवसरेऽपि च ॥ ७७ ॥
टीका—साहस भी पराक्रम है। आशांवित रहना पराक्रम

है। अनेकों सुयोग्य और समर्थ व्यक्ति साहस के अभाव में बड़े काम नहीं कर पाते और अवसर रहते हुए भी पिछड़ेपन की स्थिति में पड़े रहते हैं ॥ ७६-७७ ॥

व्याख्या—साहस एवं विधेयात्मक दृष्टिकोण अध्यात्म का पहला पाठ है। संत का अर्थ यह नहीं कि अनुचित भी हो तो भी चुप रहें, सहते रहें। इस परिभाषा को मस्तिष्क से निकालकर ही सच्चे अध्यात्म की उपलब्धि संभव है।

श्रेष्ठाः परंपरा ग्राह्या न च कुप्रचलानि तु।
स्वीकार्याणि न चानीतिः कार्या सह्याऽपि वा पुनः ॥ ७८ ॥
अवाञ्छनीयता - नाशं कर्तुं संघर्षशीलता ।
तथैव पुण्यदा पुण्यं नीतिन्यायार्जनं यथा ॥ ७९ ॥
अनीतिपीडितोद्धारस्तथा श्लाघ्यो यथा च तत्।
पीडितोद्धारसाहाय्यं कष्टदूरकरं नृणाम् ॥ ८० ॥

टीका—कुप्रचलों को स्वीकार न किया जाए। मात्र श्रेष्ठ परंपराएँ ही अपनाई जाएँ। अनीति न करें और न अनीति सहें। अवाञ्छनीयताओं का विरोध उन्मूलन करने के लिए संघर्ष करना भी उतना ही बड़ा पुण्य है, जितना कि नीति-न्याय को अर्जित करना। अनीति के उत्पीड़ितों को बचाना भी उतना ही सराहनीय है, जितना कि दुःखियों की उदार सहायता करके, उन्हें कष्टों से निवृत्ति दिलाना ॥ ७८-८० ॥

व्याख्या—स्वयं अपना विवेक प्रयोग न कर अंध परंपराएँ स्वीकार कर लेना, अनीति सहना एवं ऐसे किसी अभियान से अपना सहयोग दर्शाना भी एक प्रकार से कायरता का एवं अनीति सहयोग का परिचायक है। हर व्यक्ति को समाज में रहना है, तो अवाञ्छनीयता का प्रतिकार भी करना होगा एवं संघर्ष हेतु तत्पर भी होना होगा। सज्जनता पराक्रम के साथ ही शोभा देती है। शौर्यरहित सौम्यता एक प्रकार की कायरता है। जिसमें मन्यु जागृत नहीं है, वह मानवी काया में होते हुए भी मनुष्य नहीं है। महामानव इसीलिए न केवल सत्प्रयोजनों में स्वयं को नियोजित करते हैं, अन्य दुःखियों की सहायता करते हैं, वरन दुष्टों-पीड़ितों से उनकी रक्षा भी करते हैं। यह बल-पराक्रम ही सच्चा शील है, मानवी गरिमा का द्योतक है।

पराक्रमश्च सौजन्यं विपरीतमिव द्वयम्।
भिन्नं प्रतीयमानं तदवच्छिन्नं परस्परम् ॥ ८१ ॥
रहस्यं नव्यरूपेण श्रोतृभिस्तच्छ्रुतं समैः।
द्वयोर्महत्त्वमादातुं प्रयोक्तुं च समं द्वयम् ॥ ८२ ॥
सहमतिं स्वां समे व्यक्तां व्यधुः पूर्णतया नराः।
युगनिर्माणोपस्थाश्च दृष्टस्तैः सम्मुखे स्फुरन् ॥ ८३ ॥
सत्रे विसर्जिते सर्वेऽप्यभिवादनपूर्वकम्।
मनीषिणः प्रयान्तस्ते सार्थक्येऽस्य समेऽप्यलम्।
अन्वभूवंश्च सन्तोषं हर्षं प्राप्येव सन्निधिम् ॥ ८४ ॥

टीका—सौजन्य और पराक्रम एक दूसरे से भिन्न एवं विपरीत जैसे लगते हैं, पर वे दोनों किस प्रकार परस्पर अविच्छिन्न हैं इस रहस्य को श्रवणकर्त्ताओं ने नए रूप में समझा। वे दोनों को समान महत्त्व देने और साथ-साथ प्रयोग में लाने के लिए पूर्णतया सहमति व्यक्त करने लगे। युगनिर्माण

का मार्ग उन्हें स्पष्ट रूप से दीखने लगा। सत्र विसर्जित हुआ। अभिवादनपूर्वक विदा लेते हुए सभी मनीषियों को इस सुयोग की सार्थकता पर बड़ा हर्ष और संतोष अनुभव हो रहा था, मानों कोई श्रेष्ठ निधि हाथ लग गई हो ॥ ८१-८४ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः
श्री आश्वलायन-आरुणि ऋषि संवादे सौजन्य-पराक्रम, इति प्रकरणो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥